BIHAR SHODH SAMAAGAM
Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed Open Access Journal
issn : 3048-6971
Vol. 1, Issue 3, July-September 2023
Available online : https://www.biharshodhsamaagam.com/

नाटक और रंगमंच का शिक्षण और शोध : वाद-विवाद-संवाद के पहलू

डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय
हिंदी विभाग
सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध-सार : नाटक जो मूलतः और अंतत: प्रदर्शनकारी कला है, वह कम-से-कम नये शोध प्रक्रियाओं में पाठ और मंच से मित्रवत होकर व्यवहृत हो, तभी इसका शोध परिदृश्य एक सकारात्मक ऊँचाईयों तक पहुँचेगा, जो पहले के तमाम शोध प्रयासों से अधिक प्रभावी और सार्थक होगा। वैसे भी अकादमिक जगत में शोध की जो पद्धति अपनाई जाती है वही पद्धति नाट्यकला विभागों में पूरी तरह नहीं लागू होती। वहाँ वही बहस सामने आ जाती है कि मंच और पाठ का सामंजस्य अधिक आवश्यक है।

बीज : हिंदी नाटक, रंगमंच, प्रदर्शनकारी कला और शिक्षण, विमर्श, अध्ययन पद्धति।

मूल लेख : हिंदी साहित्यांतर्गत जबसे नाटक और रंगमंच का शिक्षण महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में होना शुरू हुआ, तबसे ही संभवतः इसके प्रायोगिक पक्ष, जो कि इसका सबसे अनिवार्य और महत्वपूर्ण पक्ष है, को जाने-अनजाने उपेक्षित रखा गया है। 'आज प्रायः नाट्य के प्रदर्शन को नाटक कहा जाता है। नाट्य या नाटक शब्द मंचन के लिए रूढ़ हो गए हैं। कहीं भी कोई नाट्य प्रस्तुति हो, यही कहा जाता है कि अमुक स्थान पर नाटक या नाट्य का मंचन किया जा रहा है।'[1] इतना ही नहीं जब बात नाटकों के प्रदर्शन और शिक्षण की होती है तो पुराने अथवा क्लासिक कहे जाने वाले नाटकों के ही नहीं बल्कि आधुनिक नाटकों, जो अधिक प्रदर्शित हुए और खेले गए हैं, उनका भी शिक्षण अधिकांशतः दास्तानगोई पद्धति से ही होता रहा है और उनपर शोध टेक्स्ट केन्द्रित ही अधिक होता रहा है। फ्रेड मैक्लेन ने कहा है कि 'टेक्स्ट(पाठ) में बंद अभिनेता को आजाद किया जाना चाहिए और सहभागिता के मंच को पुनः बनाना चाहिए।'[i] अकादमिक शिक्षण और शोध के संदर्भ में यदि मैक्लेन की इस बात कि 'टेक्स्ट में बंद अभिनेता को आजाद किया जाना चाहिए' से पूरी तरह सहमत ना हुआ जाए तो भी हम सभी इतना तो अवश्य देखते हैं कि नाटक के शिक्षण और शोध में ऐसे कई प्रश्नों से हम लगातार अपने पढ़ने के संदर्भ में जूझते हैं, जो मूलतः प्रस्तुति-प्रक्रिया के दायरे में आते हैं। मसलन, जब शिक्षण में प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीयता, नाटकों की पाठ-प्रस्तुति, प्रस्तुति प्रक्रिया आदि से संबंधित प्रश्न लगातार परीक्षा में पूछे जाते हैं तब यह सवाल मौजूं हो जाता है कि नाटक और रंगमंच का अध्ययन-अध्यापन और शोध जब पाठ और मंच के सहभागिता से ही नहीं निर्मित होता तो ऐसे प्रश्न कितने वाजिब हैं। ऐसे में पठन-पाठन और शोध की दिशा एकांगी होगी। जाहिर है कि इसका उत्तर क्लासरुमीय या पुस्तकालयी परिधि के भीतर संभव नहीं। ऐसा कहने की एक बड़ी वजह यह भी है कि नाटक और रंगमंच के संदर्भ में जिस तथ्य से हमारा पहले परिचय होता है, वह यह कि नाटक दृश्यकाव्य है अथवा नाटक और रंगमंच मूलतः और अंततः प्रदर्शनकारी कला है। परंतु कहने-लिखने से परे शोध के क्रम में यह बाद नेपथ्य में चली जाती है तथा नाटक और रंगमंच विषयी शोध भी अन्य दूसरी विधाओं के नजदीक जा खड़ा होता है।

जहाँ तक नाटक और रंगमंच के शोध का संदर्भ हैं मेरा अभीष्ट किसी शोधार्थी या शोध-निर्देशक की योग्यता और किये जाने रहे अथवा किये गए शोध की गुणवत्ता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा नहीं है न यहाँ इस बहस में इस बात की जरुरत है। ध्यान देने वाली बात है कि इस पूरे उपक्रम का सबसे दु:खद पहलू यही है कि विश्वविद्यालयों में शोध का दायरा पाठ केन्द्रित अधिक हुआ है, रंगमंच केन्द्रित कम। अपने शोध की प्रक्रिया और कलेवर में नाटक और रंगमंच एक अलग अनुशासन की मसला है और इसी वजह से यह अलग तरह के शोध दृष्टि

[1] मिश्र, ब्रजवल्लभ, भरत और उनका नाट्य शास्त्र, उत्तर ,मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद, संस्करण – 1988 पृष्ठ -70

@2023 Bihar Shodh Samaagam

की माँग भी करता है। उसके लिए उसी तरह के शोध प्रविधि का चयन आवश्यक है, जो शब्द और मंच दोनों की दूरी को पाटे। ऐसा नहीं है कि नाटक का पाठ केन्द्रित शोध नहीं हो सकता लेकिन जब आप किसी विधा का एक फॉर्म तय करते हैं और उसका एक व्याकरण रचते हैं तब उस विधा को उसकी समग्रता में समझना आवश्यक हो जाता है क्योंकि "नाटक कोई पाठ्य-पुस्तक मात्र नहीं है, जैसे कि कहानी और उपन्यास। न उनकी तरह नाटक का सीधा संबंध 'पाठकों' से होता है, हालांकि अन्य विधाओं का भी नाट्य रुपंतारण और मंचन जरुर होता रहा है, पर जैसे ही वह विधा अपना मूल फॉर्म त्याग कर मंचस्थ होती है तो उसके अध्ययन और देखने की दृष्टि भी बदल जाती है। ऐसे में इस पर किया जाने वाला शोध भी मूल आलेख और मंचीय आलेख को केंद्र में रखकर करना उचित होगा।

नाटक एक जीवंत अनुभव है, जो अपनी जीवंतता रंगमंच पर ही प्राप्त करता है। नाटक की सही कसौटी रंगमंच ही है। रंगमंच को उसका निकष मानकर ही उसकी निजी सत्ता की खोज संभव है। नाट्यकृति और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक-दूसरे के पर्याय भी। निःसंदेह रंगमंच की आत्मा नाटकीयता है और नाटक की आत्मा रंगमंचीयता। "[ii] यह बात लगातर पढ़ते-पढ़ाते रहने के बावजूद शोध के क्रम में हम लगातार उसी पारंपरिक ढाँचे को लेकर अपने शोध विषय और शोध पद्धति को निर्मित कर लेते हैं। जबकि साहित्य शिक्षण और शोध के क्रम में नाटक और रंगमंच के पत्र में यह भी बातें देखने में आती हैं कि हमारी शिक्षा पद्धति में नाटक और रंगमंच के लिए टेक्स्ट केंद्रित शोध के बाहर अधिक स्पेस नहीं है, बल्कि जाने-अनजाने इसे सांस्थानिक मान लिया जाता है कि यह तो फलां स्कूल का काम है। दरअसल, जब तक 'नाटककारों' और 'शब्दों' के मंच को वास्तविक मंच अथवा दृश्य माध्यमों, तकनीकों और उनकी जानकारियों से भी लैस नहीं किया जायेगा, रंगमंच और नाटक का शोध उसी पारंपरिक और एकांगी ढर्रे पर ही चलता रहेगा। पाठ और प्रदर्शन की सहभागिता से ही नाटक और रंगमंच का शोध अपनी समग्रता में और अधिक विकसित तथा परिणामों में अधिक सार्थक और विश्वसनीय होकर सामने आएगा। इस कथन के आशय में डॉ० सत्येंद्र तनेजा के एक आलेख 'आपबीती के बहाने नाट्यालोचन पर एक विमर्श' का संदर्भ भी समाहित है, जहाँ उन्होंने नाटक और रंगमंच के अध्ययन अध्यापन और शोध की पारंपरिक दिशा पर सवालिया निशान लगाते हुए लिखा है कि "छात्रों में रंगमंच या उसके विभिन्न पहलुओं को गहराई से समझने की जिज्ञासा कम न थी परन्तु प्राध्यापन तो पुरानी लीक पर चल रहा है-रह-रहकर सभी प्रकार के सवालों के हल पुस्तकों में खोज पाना कैसे मुमकिन हो सकता है। व्यावहारिक पक्ष बिल्कुल अछूता है। यह जानकार आश्चर्य होता है कि एक शोधार्थी ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय पर थीसिस लिखकर पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त कर ली परंतु उसके परिसर में होने वाली प्रस्तुतियों या रंगजगत से उसका – या किसी शोधार्थी का – कोई सरोकार नहीं रहा। यह परिपाटी अब सभी विश्वविद्यालयों में मिल जाएगी। पुस्तकीय ज्ञान की अपनी सीमाएं हैं।...जबकि मंचन के स्तर पर लगातार परिवर्तन और प्रयोग हो रहे हैं। पुस्तकीय-ज्ञान का महत्त्व कम नहीं है, वस्तुतः उसी से विषय की नींव बनती है परन्तु संपूर्णता तभी आ पाएगी जब नाटक और रंगमंच के पारस्परिक रिश्तों और उससे जुड़े सवालों पर पूरा आलोक पड़े। "[iii] मगर नाटकों की भी अपनी सीमा है। सभी नाटक एक जैसी गुणवत्ता और मंचीय संभावना के नहीं हो सकते। उदहारण के तौर पर शोधार्थियों को हरिकृष्ण प्रेमी और मोहन राकेश के नाटकों के बीच के फर्क को भी समझना होगा। इस संबंध में देवीशंकर अवस्थी द्वारा उद्धृत प्रेमचंद का मत भी द्रष्टव्य है "ड्रामे दो किस्म के होते हैं। एक किरत (पढ़ने) के लिए, एक स्टेज के लिए"[iv] तो ऐसा समझा जा सकता है कि प्रकारान्तर से उन्होंने लिखित नाटक और मंच के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के महत्त्व को समझा होगा। पर इसका दु:खद पहलू यह है कि परंपरागत शिक्षण एवं शोध पद्धति के आदी नाटक और रंगमंच के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। मसलन, उनका तर्क होता है कि यह रंगकर्मियों का काम है, हमारा काम केवल इसके लिखित पाठ को पढ़ना-पढ़ाना भर है, इतना कहने मात्र से वह छूट जाते है और यह भूल जाते हैं कि अगर दोनों के बीच कोई संबंध नहीं बैठता, तो फिर वह अपने अभ्यास (अपने परीक्षण) में, जब वह प्रश्न-पत्र बनाते हैं अथवा शोध विषय का निर्धारण कर रहे होते हैं, उस समय वह कामचलाऊ शोध की ही भूमिका रच रहे होते हैं। तब उन्हें नाटक की अभिनेयता, रंग-सृष्टि अथवा रंगमंचीयता जैसे सवाल पूछने का कोई अधिकार नहीं।

दरअसल, मेरा ऐसा कहने का आशय यह बिलकुल नहीं है कि साहित्य के शिक्षकों अथवा शोधार्थियों को नाटक या रंगमंच पढ़ने-पढ़ाने और उस पर शोध करने-कराने के लिए नाट्य विद्यालयों में जाकर अभिनय अथवा नाट्य कलाओं का प्रशिक्षण लेना शुरू कर देना

@2023 Bihar Shodh Samaagam

चाहिए। बल्कि मेरा सवाल सिर्फ उस पहलू की ओर इशारा करना है, जहाँ हम नाटक के टेक्स्ट और मंच के साहचर्य और सहयोग से नाटक के पठन-पाठन और शोध को अधिक प्रभावी और जीवंत बना सकते हैं, जो इस विधा की सबसे बड़ी और मूलभूत जरुरत है। यह प्रयोग नाटक और रंगमंच के शोध विषय और पाठ के शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों से अधिक प्रभावी ढ़ंग से जुड़ सकेगा और तब किया जाने वाला शोध अपने परिणामों में अधिक विश्वसनीय हो सकेगा। तब हम हिंदी भाषा/साहित्य के पाठ्यक्रम में नाटक और रंगमंच की प्रायोगिक और प्रभावी शिक्षा और शोध का, यानी टेक्स्ट और परफोर्मेंस दोनों के सहभागिता से बेहतर शिक्षण-परीक्षण का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

नाटक जो मूलतः और अंतत: प्रदर्शनकारी कला है, वह कम-से-कम नये शोध प्रक्रियाओं में पाठ और मंच से मित्रवत होकर व्यवहृत हो, तभी इसका शोध परिदृश्य एक सकारात्मक ऊँचाईयों तक पहुँचेगा, जो पहले के तमाम शोध प्रयासों से अधिक प्रभावी और सार्थक होगा। वैसे भी अकादमिक जगत में शोध की जो पद्धति अपनाई जाती है वही पद्धति नाट्यकला विभागों में पूरी तरह नहीं लागू होती। वहाँ वही बहस सामने आ जाती है कि मंच और पाठ का सामंजस्य अधिक आवश्यक है। यह सामंजस्य ही नाटक और रंगमंच के अध्ययन और शोध को व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करेगा। इसलिए यह बात पक्के तौर पर जान लेनी चाहिए कि नाटक और रंगमंच के शोध को केवल मुद्रित शब्दों तक सीमित करना दरअसल नाटक के अर्थ-संदर्भों को सीमित करना ही सिद्ध होगा।

@2023 Bihar Shodh Samaagam

सन्दर्भ सूची :

[1] मिश्र, ब्रजवल्लभ, भरत और उनका नाट्य शास्त्र, उत्तर ,मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहाबाद, संस्करण – 1988 पृष्ठ -70

[2] द्रष्टव्य Article : Postmodernism and Theatre by Fraid Macglein, Book – Postmodernism : Philosophy and Arts Ed. Huegh J. Siverman, Routledge, page-137.

[3] देखिए, रंगभाषा, गिरीश रस्तोगी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, वितरक राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली पृष्ठ - 44.

[4] द्रष्टव्य : लेख-आपबीती के बहाने नाट्यालोचना पर एक विमर्श, सत्येंद्र कुमार तनेजा, रंग-प्रक्रिया के विविध आयाम, सं० प्रेम सिंह सुषमा आर्य, राधाकृष्ण, नयी दिल्ली पृ०32.

[5] द्रष्टव्य : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिका रंग-प्रसंग-5 में देवीशंकर अवस्थी ने हिंदी की नाटक समीक्षा नामक लेख में प्रेमचन्द की चिट्ठी पत्री1, पत्र संख्या 178, पृष्ठ -148, 24 जुलाई 1924 के हवाले से लिखा है.